International Journal of Multidisciplinary Research and Development
Online ISSN: 2349-4182, Print ISSN: 2349-5979, Impact Factor: RJIF 5.72
www.allsubjectjournal.com
Volume 4; Issue 6; June 2017; Page No. 195-197

भर्तृहरि का आगमपरक चिन्तन

सुशीला आर्या
शोधछात्रा, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

प्रस्तावना

भर्तृहरि उपर्युक्त विषय के सम्बन्ध में कहते हैं कि-

न मागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्।। वा. 1. 30।।

अर्थात् ''धर्म की सत्ता शुद्ध तर्क पर नहीं टिक सकती, उसके लिए 'आगम' का आधार अनिवार्य है। यहाँ तक कि ऋषियों का ज्ञान भी आगम पर ही आधारित है।''

यहां प्रयुक्त 'आगम' शब्द की स्पष्ट व्याख्या करते हुए भर्तृहरि अगले ही श्लोक में कहते है:

धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः।
न ताँलोकप्रिसद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते।। वा. 1. 31।।

अर्थात्, ''धर्म के जो मार्ग लोक-प्रसिद्ध रूप से व्यस्थित हैं, उन्हें केवल तर्क के आधार पर ही कोई खण्डित नहीं कर सकता।'

स्पष्ट है कि जिसे ऊपर 'आगम' कहा गया है, उसे ही यहां 'लोक-प्रसिद्ध धर्म-मार्ग' कहा गया है। 'तर्क' की बाधा इसी तत्त्व पर असर नहीं कर सकती। अर्थात्, भर्तहरि के अनुसार 'लोक-प्रसिद्ध धर्ममार्ग' ही तर्क से अव्याहत 'आगम' है।

इसलिए जब भर्तृहरि 'व्याकरणागमः' जैसा शब्द प्रयुक्त करते हैं, तब उसका अर्थ होता है 'लोक-प्रसिद्ध व्यवस्था या मार्ग का विवेचक व्याकरण'। इसे ही त्रिपदी टीका में भर्तृहरि ने यूं कहा है: ''य एव लौकिकः शब्दोऽसावेवाश्रीयते। तस्यैवेदमनुशासनं शास्त्रम्।''[1] अर्थात्, 'इस शास्त्र में लोक-प्रयुक्त शब्द का ही आश्रय लिया जाता है और उसी का अन्वाख्यान किया जाता है। धर्म-नियम या 'धर्ममार्ग' शब्द भी उक्त कथन में अभिप्रायहीन नहीं है। पतंजलि के लोकतोऽर्थ-प्रयुक्ते शब्दे शास्त्रेण धर्मनियमः'[2] के रूप में जिस सत्य को कहा है, भर्तृहरि उसे ही 'आगम' का आधार बता रहे हैं। स्पष्ट है कि 'आगम' शब्द, 'शास्त्र' का पर्यायवाची होकर भी, 'शिष्टों द्वारा निबद्ध शास्त्र' से किंचित भिन्न है। यथा- अकृतक शास्त्रः तस्मादकृतकं शास्त्रम्[3]।

'परम्परा' से इसका अविच्छिन् सम्बन्ध बताते हुए भर्तृहरि महाभाष्य की त्रिपदी टीका में कहते हैं: 'पारम्पर्येणाविच्छिन्न उपदेश आगमः। क्षुतिलक्षणः स्मृतिलक्षणश्च सः'[4]। अर्थात्, 'परम्परागत रूप में दो भेद हो सकते हैं- श्रुति-लक्षण और स्मृतिलक्षण।[5]'

'अविच्छिन्न परम्परा' और 'अकृतकता' का आगम के मुख्य लक्षण मानते हुए भर्तहरि कहते हैं:

चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेवेन वर्त्तते।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाधते।। वा. 1.41।।

अर्थात्, ''यह आगम' चैतन्य की तरह सार्वत्रिक और अविच्छिन्न है तथा इसे तर्क और वादों के बल से खण्डित नहीं किया जा सकता।''

वा. 1.36 में भर्तृहरि 'स्मृति' का आधार 'आगम' को बताते हैं: 'यथाऽऽ-गमम्'। अतएव व्याकरण का एक रूप है नियामक या स्मृतिरूप, जिसके द्वारा हम किन्हीं अन्तर्हित नियमों को पहिचानते हैं। किन्तु, 'आगम' के रूप में 'व्याकरण' व्यापक लोकाधार को लेकर हमारे सामने आता है। इसी लिए हम उसे 'लोकागम' भी कहने का साहस कर बैठते हैं।[6] इसे अधिक स्पष्टता से समझने के लिए भर्तृहरि के निम्न शब्दों पर ध्यान देना होगा:

सर्वोऽदृष्टफलानर्थानागमात् प्रतिपद्यते।
विपरीत च सर्वत्र शक्यते वक्तुमागमे।। वा. 1.141।।

अर्थात्, 'आगम के द्वारा ही अदृष्टफल अर्थों की उपलब्धि होती है, और विपरीत अर्थों का निश्चित भी इसी आगम के द्वारा किया जा सकता है।'

भर्तृहरि तो व्याकरण की मौलिक कल्पना-प्रकृति-प्रत्यय-विभाग- को भी, स्थिर न मानकर, लोक-प्रयोग पर आधारित और 'ऊह' का विषय स्वीकार करते हैं: 'शिष्टप्रयोगमभिसमीक्ष्य प्रकृतिरूहितव्या प्रत्ययश्च'।[7] अर्थात्, प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना भी लोकप्रयोग पर आधारित है।

व्याकरण और भाषा के लिए लोक को चरम प्रमाण मानने वाले भर्तृहरि कहते हैं: 'यस्माल्लोकादयं शिक्षते स लोकः सापराधः साधूनसाधूँश्च शिक्षयति। यश्चात्मप्रत्यायनेऽर्थः प्रैरयिता, स यथैव गौरित्येवं प्रेरयत्येवं गाव्यादीनपि। अतः शास्त्रप्रवृत्तिः। एवमर्थीः कथमसाधवो निवर्त्तेरन्निति[8]।' अर्थात्, ''शिक्षा के स्त्रोत लोक की प्रकृति सापराघ है। उससे साधु और असाधु दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग ज्ञात होता है। आत्म-प्रत्यायन में जो अर्थ प्रेरक होता है, वह

'गौ' और 'गावी' का प्रत्यायन समान रूप से कराता है। शास्त्र की प्रकृति भी इसी (अर्थ-प्रयोग) के आधार पर होती है। जब अर्थ-प्रेरणा ही सब कुछ है, तब किन्हीं 'असाधु' शब्दों को कैसे हटाया जा सकता है?''

'वाक्यपदीय' में भी भर्तृहरि ने कहा है कि- 'संस्कारहीन शब्द ही 'अपभ्रंश' कहलाता है, किन्तु वह किसी विशिष्ट अर्थ में रूढ़ हो जाता है।'[9] अस्व, गोणी, आदि शब्दों को अन्य विषय या प्रसंग में 'साधु' कहा जा सकता है।[10] भर्तृहरि आगे कहते हैं 'जब लोक में कोई अपभ्रंश शब्द किसी निश्चित अर्थ में रूढ़ हो जाता है, तब उस विशिष्ट अर्थ में प्रसिद्ध साधु शब्द का भी प्रयोग नहीं किया जाता'।[11] इसीलिए उन्होंने कहा 'यश्चासौ लौकिकः शब्दोऽसावेवाश्रीयते। तस्यैवेदमनुशासनं शास्त्रम्'।[12] और, 'शब्दाः लोक निबन्धनाः'।[13]

महाभाष्य टीका में 'आगम' की व्याख्या करते हुए भर्तृहरि ने उसे 'श्रुतिलक्षणः स्मृतिलक्षणश्च' कहा है। यह 'श्रुति' क्या है? हमने अन्यत्र उसे 'लोक-आगम' का पर्याय कहा है। इसे हमने 'आत्म-प्रत्यायन' नाम भी दिया है। वहीं पर हमने कहा है: 'अपनी प्रतिभा और अनुभूति के आधार पर हम जो कुछ प्राप्त करते हैं, वह है श्रुति।'[14] भर्तृहरि इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं-

अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्त्तकाम्।[15]

अर्थात्, 'श्रुति अनादि, श्रव्यवच्छिन्न और अकर्त्तक है।' इसी श्लोक में 'स्मृति' को 'शिष्ट-निबद्ध' कह कर वे उसकी सीमा को बताते हैं। 'स्मृति' के सनिबन्धन होने की तुलना 'अकृतकत्व' से करते हुए वे अन्यत्र कहते हैं: तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम्।[16] यहां 'शास्त्र' को 'अकृतक' कहते हैं।

अनादि, अव्यवच्छिन्न और अकर्त्तुक आदि विशेषणों को हम भर्तृहरि द्वारा 'आगम' के प्रसंग में भी पाते हैं:

नित्यत्वे कृतकत्वे च तेषामादिर्न विद्यते।
प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्थानित्यतोच्यते।। व. 1.28।।
नानर्थिकामिमां कश्चिद् व्यवस्थां कर्त्तुमर्हति।
तस्मिन्निबध्यते शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः।। वा. 1.29।।

अर्थात्, ''आगम का आधार जिस श्रुति पर है, वह एक प्रकार की नित्य व्यवस्था है। वह अनादि और अकृतक है। उसे कोई भी अनर्थक नहीं बना सकता। शिष्ट लोग उसी के पर्य्यालोचन के आधार पर 'स्मृति' अर्थात् 'नियम' का विधान करते हैं।''

श्रुति और स्मृति में भेद

'श्रुति' और 'स्मृति' का भेद करते हुए वा. 1.145 में भर्तृहरि ने 'श्रुति' को अकर्त्तृक अव्यवच्छिन्न ओर अनादि बताया है, जब कि स्मृति को उन्होंने शिष्टों द्वारा निबद्ध बताया है। वे इनमें, आगे चलकर, अन्य भेद भी बताते हैं।

अविभागाद् विवृत्तानामभिख्यास्वप्नवच्छ्रुतौ।
भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिंगेभ्यो विहिता स्मृतिः।। वा. 1.146।।

अर्थात्, 'श्रुति' अविभाज्य है, जब कि 'स्मृति' का विधान ही लिंगों पर आधारित होता है। इसीलिए हमने 'स्मृति' को 'परम्परा का विश्लेषण' कहा है।[17] 'श्रुति' परम्परा का उपदेश या समग्र ज्ञान है।

भर्तृहरि केवल एक स्थान पर ही 'श्रुति' और 'स्मृति' को रूढ़ अर्थों में प्रयोग करते दीखते हैं, यद्यपि वहां भी उनका अभिप्राय 'परम्परा के अनुशीलन' और 'विश्लेषण' से ही है।[18]

'श्रुति' को हम, भर्तृहरि की दृष्टि में, 'शब्दोपदेश' (शब्दोच्चारण) का अपर पर्य्याय भी कह सकते हैं। एक स्थल पर वे कहते हैं:

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्।। वा. 1.46।।

अर्थात्, 'जिस प्रकार काष्ठस्थ अग्नि अनेकत्र ज्वाला या प्रकाश कारण हो सकती है, उसी प्रकार 'बुद्धिस्थ शब्द' के एक होने पर भी उसके 'वाचक शब्द' (या श्रुतियां) अनेक हो सकते हैं'।[19]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्याकरण के जो दी पार्श्व लोक-परम्परा-गत शब्दराशि एवं उसके अन्तर्वर्त्ती नियमों के विश्लेषण के रूप में समझे जाते हैं, उनमें से प्रथम को 'श्रुति' और दूसरे को 'स्मृति' कहते हैं। ये दोनों ही व्याकरण के अंग हैं। विश्लेषण का आधार परम्परा-ज्ञान पर ही स्थित है। यदि यह परम्परा ज्ञान न हो, तब हम 'भावतत्त्व' को न जान सकेंगे। और यदि 'भावतत्त्व' को न जान पाएं, तब व्याकरण' का जन्म ही असम्भव होगा।

'श्रुति' को हम, आज की भाषा में, 'ज्ञात शब्दराशि' या 'ज्ञात ज्ञानराशि' कह सकते हैं। उसके आधार पर ही व्याकरण के नियमों का निर्धारण होता है। पर व्याकरण केवल नियमों का संग्रह मात्र ही नहीं है। उसे 'श्रुति-स्मृति' में कथित धर्म भी कह सकते हैं।[20] उसमें नियमविधान किसी परम्परा के अनुशीलन के रूप में ही होता है।

दूसरे शब्दों, में 'श्रुति' का सम्बन्ध भाषा के परम्परागत प्रवाह और उसके ज्ञान से है, जबकि 'स्मृति' का सम्बन्ध भाषा के पारस्परिक सम्बन्ध-सूत्रों अथवा रचना और विकास में अन्तर्हित नियमों की पहचान से है। दोनों मिलकर ही व्याकरण की पूर्णता बताते हैं। यद्यपि व्याकरण के नियम या सूत्र (स्मृति-सूत्र) शिष्टों द्वारा निबद्ध होते हैं, पर उन नियमों का कार्य भाषा में अकर्त्तक, अनादि और अनाहत होता है। इसीलिए व्याकरण के सूत्र-संग्रह को हम, भर्तृहरि के अनुसार, स्मृतिनिबद्ध अथवा स्मृति-निबन्धन कह सकते हैं, जब कि भाषा में उन नियमों के स्वाभाविक कार्य (श्रुति) के परिज्ञान को, अकृतक या अकर्त्तृक शास्त्र अथवा आगम के रूप में, उसकी अविच्छिन्न पृष्ठभूमि कह सकते हैं।

'श्रुति' और 'स्मृति' में परस्पर विरोध भी सम्भव हो सकता है। भर्तृहरि कहते हैं: ''सा तु स्मृतिः क्वचिच्छ्रुत्या विरुध्यते। यथा अष्टाचत्वारिंशर्षाणि वेदे ब्रह्मचर्य चरितव्यमिति। इयं श्रुतिविरोधिनी

स्मृति। श्रतौ ह्युक्तं पिता पुत्रं याजयेदिति। तत्रानुमानपक्षे स्मुतिः नित्यप्रमाणं भवति।'' अर्थात्, 'कहीं इन दोनों में विरोध भी हो सकता है। ऐसी जगह अनुमान के क्षेत्र में स्मृति को ही अन्तिम प्रमाण मानना चाहिए।' आयुर्वेद एवं धर्म स्मृतियों के अन्य उदाहरण देकर भी भर्तृहरि इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। परम्परा और नियम का विरोध नहीं करना चाहिए, अपितु यदि कहीं विरोध दिखाई दे, तब अनुमानाश्रित बातों के प्रसंग में नियम की प्रधानता स्वीकार करनी ही चाहिए। क्योंकि नियम और स्मृति का आधार 'विश्लेषण' पर स्थित होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूचीं

1. म. त्रि. 1.1.1
2. म. 1.1.1
3. वा. 1. 143।
4. म. त्रि. 1.1.1
5. भाषा. वाक्य., अनु. 35, पृ. 35।
6. यही प्रबन्ध, पृ. 39, तथा भाषा. वाक्य., पृ. 33–5
7. म. त्रि. 1.1.1
8. वही।
9. वा. 1. 148
10. वा. 1. 149
11. वा. 1. 154
12. म. त्रि. 1.1.1
13. वा. 2. 197
14. भाषा. वाक्य., अनुच्छेद 35, पृ. 35
15. वा. 1. 145
16. वा. 1. 43
17. भाषा. वाक्य., पृष्ठ 35 अनु. 35।
18. वा. 134
19. 'भाषा. वाक्य.' पृष्ठ 115, अनु. 119।
20. वा. 1: 134